समाधि

आचार्य विद्यासागर

समाधि

आचार्य विद्यासागर

प्रथम संस्करण

समग्र प्रकाशन परिवार

- ❑ बैनाड़ा परिवार, आगरा (उ.प्र.)
- ❑ सुमेरमल पांड्या एवं पांड्या परिवार, आगरा (उ.प्र.)
- ❑ पवन कुमार, अशोक कुमार, निर्मल कुमार,
  विनोद कुमार दोशी, इन्दौर एवं बाकानेर (म.प्र.)
- ❑ संजय जैन पिताश्री स्व. खेमचंद जैन (मेक्स) एवं
  राजेन्द्रकुमार पिताश्री पूरनचंद जैन, इन्दौर (म.प्र.)
- ❑ भंवरलाल पाटई एवं पाटई परिवार, गुना (म.प्र.)
- ❑ संतोष कुमार जयकुमार जैन, सागर (म.प्र.)

प्राप्ति स्थान :
संतोषकुमार जयकुमार जैन (बैटरीवाला)
कटरा बाजार, सागर (म.प्र.)

समग्र

खंड एक

आचार्य श्री विद्यासागर जी

समग्र प्रकाशन, सागर (म. प्र.)

प्रेरणा एवं शुभाशीष :

परमपूज्य - मुनिश्री १०८ क्षमासागर जी
परमपूज्य - ऐलक श्री १०५ उदार सागर जी
परमपूज्य - ऐलक श्री १०५ सम्यक्तव सागर जी

समग्र - आचार्य श्री विद्यासागर जी
प्रकाशक - **समग्र प्रकाशन**, सागर (म. प्र.)
मुद्रक - **शकुन प्रिन्टर्स**, ३६२५ सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

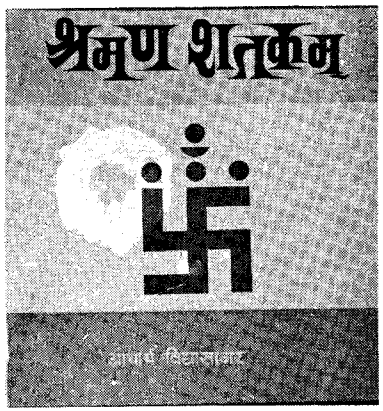

श्रमण शतकम्

श्रीवर्धमान! माऽय आकलय्य नत-सुराप्तमानमाय!।
विधींश्चामानमाय मचिरेण कलयामानमाय! ।।

अये श्री वर्धमान ! नतसुर ! आप्तमानमाय ! अमानमाय !
(त्वं) विधीन् अमान् च अचिरेण अमा आकलय्य यं मा (मां) कलय।

योगी करें स्तवन भाव भरे स्वरों से,
जो हैं सुसंस्तुत नरों, असुरों,सुरों से ।
वे वर्धमान गतमान मुझे बचावें,
काटें कुकर्म मम मोक्ष विभो ! दिलावें ।।१।।

अर्थ जिनके समक्ष देव नम्रीभूत हैं–जिन्होंने ज्ञान, लक्ष्मी और यश को प्राप्त किया है तथा जो मानऔर माया से रहित हैं, ऐसे हैं वर्धमान जिनेन्द्र ! मेरे कर्म और जन्म जरा–मृत्युरूप रोगों को एक साथ शीघ्र ही नष्ट कर मुझे कल्याणरूप अवस्था मोक्ष सुयश। को प्राप्त कराओ ।।१।।

तमनिच्छन् पुनर्भवं नृपनतमुकुटमणिलसितपुनर्भवम्।
नत्वेच्छे पुनर् भवं भद्रबाहुमहमपुनर्भवम्।।

तं पुनर्भवं अनिच्छन् अहं नृपनतमुकुटमणिलसितपुनर्भवं भद्रबाहुं
नत्वा पुनः अपुनर्भवम् भवम् इच्छे।

जो चन्द्रगुप्त मुनि के गुरू हैं,बली हैं,
वे भद्रबाहु समधी श्रुत-केवली हैं ।
वंदूं उन्हें द्रुत भवोदधि पार जाऊँ ।
संसार में फिर कदापि न लौट आऊँ ।।२।।

अर्थ - जगत्प्रसिद्ध पुनर्जन्म को न चाहता हुआ मैं राजाओं के नम्रीभूत मुकुटमणियों से सुशोभित नखवाले भद्रबाहु श्रुतकेवली को नमस्कार कर पश्चात् पुनर्जन्म से रहित सिद्धपर्याय की इच्छा करता हूँ ।।२।।

प्रणमामि 'कुन्दकुन्दं' भव्यपद्मबन्धुं धृतवृषकुन्दम्।
गतं च समताकुं दं परमं सम्यक्त्वैककुन्दम्।।

भव्यपद्मबन्धुं धृतवृषकुन्दं, समताकुं गतं परमं दं च (गतं),
सम्यक्त्वैककुन्दं 'कुन्दकुन्दं' प्रणमामि।

हे कुन्दकुन्द मुनि ! भव्य-सरोज-बन्धु,
मैं बार-बार तव पाद-सरोज वंदूं ।
सम्यक्त्व के सदन हो समता सुधाम ।
है धर्म-चक्र शुभ धार लिया ललाम ।।३।।

अर्थ– जो भव्य जीवरूपी कमलों के बन्धु हैं –उन्हें हर्षित करने वाले हैं, जिन्होंने धर्म चक्र को धारण किया है, जो समतारूपभूमि तथा श्रेष्ठ पवित्रता को प्राप्त हैं और सम्यग्दर्शन ही जिनकी अद्वितीय निधि है, उन कुन्दकुन्दाचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ ।।३।।

शुचौ स्वपदे शीतकं यो 'ज्ञानाब्धिं सदुपदेशी तकम्।
निज-संपदेऽशीतकं यजेऽघशुचिविपदे शीतकम्।।

यः सदुपदेशी, तकं शुचौ स्वपदे शीतकम् अशीतकम्, अघशुचिविपदे शीतकं, 'ज्ञानाब्धिं' (ज्ञानसारगरम्) निजसंपदे यजे।

जो 'ज्ञानसागर' सुधी गुरू हैं हितैषी,
शुद्धात्म में निरत, नित्य हितोपदेशी ।
वे पाप-ग्रीष्म ऋुत में जल हैं सयाने,
पूजूँ उन्हें सतत केवल-ज्ञान पाने ।।४।।

अर्थ- मैं आत्मज्ञानरूप संपदा के लिए उन ज्ञानसागर आचार्य की पूजा करता हूँ। जो सदुपदेशी थे, शुद्ध आत्मस्वभाव में स्थित थे, प्रमादरहित थे और पापरूपी ग्रीष्म ऋुत की प्यासरूप विपत्ति को दूर करने के लिए शीतलजल थे ।।४।।

अये ! सरस्वति ! मातः संसारादहमतिभीतो मातः।
विलम्बं कलय मा त उपासकं प्रपालय माऽतः।।

अये सरस्वति मातः ! अहं संसारात् मातः अतिभीतः अतः विलम्बं मा कलय, ते उपासकं मा (मां) प्रपालय।

हे शारदे ! अब कृपा कर दे जरा तो,
तेरा उपासक खरा, भव से डरा जो !
माता ! विलम्ब करना मत, मैं पुजारी,
आशीष दो, बन सकूं बस निर्विकारी ।।५।।

अर्थ– हे सरस्वतिमातः ! मैं संसाररूप बंध से अत्यन्त भयभीत हूँ, अतः विलम्ब मत करो, अपने सेवक–मुझ की रक्षा करो ।।५।।

वच आश्रित्य साधु तां साधुनुतां साधुगुणपयसा धुताम्।
साधुतार्थमसाधुतां साधुरूपोज्झ्य वदे साधुताम्।।

साधुः (अहं) साधु–वचः आश्रित्य असाधुताम् उपोज्झ्य साधुतार्थं
साधुनुतां साधुगुणपयसा धुतां तां साधुतां वदे।

रे ! साधु का निहित है हित साधुता में,
धारूँ उसे तज असार असाधुता मैं ।
भाई ! अतः श्रमण के हित मैं लिखूँगा,
शुद्धात्म को सहज से फलतः लखूँगा।।६।।

अर्थ मैं साधु–श्रेष्ठ वाणी का आश्रय लेकर तथा असाधुता–दुर्जनता को छोड़कर सज्जनों के द्वारा स्तुत और साधुओं के मूलगुणरूपी जल से धुली हुई उस साधुता का, साधुता की प्राप्ति के लिये कथन करता हूँ ।।६।।

मनाङ् मानं मोरसि मुनिरेतु रचयतु रुचिं जिनवचसि।
वसत्वरण्ये रहसि स्नातुमिच्छति स्वचित्सरसि।।

मुनिः उरसि मनाङ् मानं मा एतु। (चेत्) स्वचित् सरसि स्नातुम्
इच्छति (तदा) जिनवचसि रुचिं रचयतु, रहसि अरण्ये (च) वसतु।

विद्वान मान मन में मुनि जो न धारें,
वे 'वीर' के वचन से मन को सुधारें ।
जाके रहे विपिन में मन मोद पाते,
हैं स्नान आत्म-सर में करते सुहाते ।।७।।

अर्थ– मुनि को चाहिये कि वह हृदय में किञ्चित् भी मान को प्राप्त न हो । यदि वह आत्मज्ञान रूपी सरोवर में स्नान करना चाहता है तो जिनवचन–जिनागम में रूचि करे एवं एकान्त वन में निवास करे ।।७।।

याति यतिर्यदि जातु न कर्म तस्यावश्यं हृदि भातु।
स्वतत्वमिति हि विधातुर्गीर्जगद्भ्यः सुखं ददातु।।

"यदि यतिः कर्म न याति जातु, (तदा) तस्य हृदि स्वतत्वम्
अवश्यं भातु" –इति विधातुः गीः (सा) जगद्भ्यः सुखं ददातु।

जो कर्म को यति यदा करता नहीं है,
आत्मा उसे वह तदा, दिखता सही है ।
ऐसा सदैव कहती जिनदेव वाणी,
होते सुखी सुन जिसे, सब भव्य प्राणी ।८।।

अर्थ– यदि मुनि कभी बाह्यक्रियाओं के आडम्बर को प्राप्त न हो तो उसके हृदय में आत्मतत्व नियम से सुशोभित होने लगे । जिनेन्द्र भगवान् की ऐसी वाणी जगत् के लिये सुख प्रदान करें ।।८।।

भवता विषयवासनाऽपास्यतामुपास्यतां निजभावना।
प्रोहेति जैनोऽमना यद् भवन्तमटेत् शिवाङ्गना।।

भवता विषयवासना अपास्यताम्, निजभावना उपास्यताम्।
यद् भवन्त शिवाङ्गना अटेत्–इति अमनाः जैनः प्राह।

तू छोड के विषमयी उस वासना को,
निश्चिन्त हो,कर निजीय उपासना को ।
निर्भ्रान्त ही शिवरमा तुझको वरेगी,
योगी कहे, परम प्रेम सदा करेगी ।।९।।

अर्थ– हे साधो ! तुम्हें विषयवासना–इन्द्रिविषयों की अभिरूचि छोड देनी चाहिए और स्व–स्वरूप की भावना करना चाहिये, जिससे मुक्तिरूपी स्त्री तुझे वर सके, ऐसा भावमनरहित केवलज्ञानी जिनदेव ने कहा है ।।९।।

श्रमैकफलारम्भतः पौद्गलिक-पुण्यपापोपलम्भतः।
दृक्कथमुदेति हन्त। नवनीतं नीरमन्थनतः ? ।।

पौद्गलिक–पुण्यपापोपलम्भतः श्रमैकफलारम्भः हन्त !
दृक् कथम् उदेति ? (किं) नीरमन्थनतः नवनीतम् (उदेति) ?

हैं पुण्य-पाप पर, पुद्गल रूप जानूं,
सम्यक्त्व भाव इनसे किस भांति मानूं ।
ना नीर के मथन से, नवनीत पाना,
अक्षुण्ण कार्य करके थक मात्र जाना ।।१०।।

अर्थ एक खेद ही जिसका फल है, ऐसे आरम्भ से तथा पौद्गलिक पुण्यपाप की प्राप्ति से सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न हो सकता है? खेद की बात है कि, क्या कहीं जल के मन्थन से मक्खन की प्राप्ति होती है ? अर्थात् नहीं।।१०।।

स्वानुभवकरणपटवस्ते तान्विकतपस्तनूकृतत्तनवः।
विविक्तपटाश्च गुरवस्तिष्ठन्तु हृदि मे मुमुक्षवः।।

स्वानुभवकरणपटवः तान्विकतपस्तनूकृतत्तनवः मुमुक्षवः
विविक्तपटाश्च ते गुरवः मे हृदि तिष्टन्तु।

नाना प्रकार तप से तन को तपाया,
है छोड वस्त्र जिनने अघ को हटाया ।
पाया निजानुभव को निज को दिपाया,
मैंने उन्हें विनय से उर बीच पाया ।।११।।

अर्थ– जो स्वानुभाव के करने में निपुण हैं, जिनका शरीर, शारीरिक तप से कृश हो गया है, जिन्होंने वस्त्र का परित्याग कर दिया है और जो मोक्षाभिलाषी हैं, वे गुरू हमारे हृदय में स्थित हों । मैं निरन्तर उनका ध्यान करता हूँ ।।११।।

निन्द्यं न नीतमस्तं मनो नैमित्तिकं येन समस्तम्।
अन्धोऽरुणं प्रशस्तं किं संपश्यति पुरुषं स तम्।।

येन समस्तं नैमित्तिकं निन्द्यं मनः अस्तं न नीतम, किं स तं प्रशस्तं पुरूषं संपश्यति ? (नैव), यथा अन्धः प्रशस्तम् अरुणम् (नैव पश्यति)।

कम्पायमन मन को जिसने न रोका,
आत्मा उसे न दिखता जड से अनोखा ।
आकाश में अरूण शोभित हो रहा है,
क्या अन्ध को नयनगोचर हो रहा है ?।।१२।।

अर्थ-- जिसने समस्त नैमित्तिक निन्दनीय मन को अस्त नहीं किया वह क्या प्रशस्त परमात्मा का अवलोकन कर सकता है? जैसे अन्धा मनुष्य क्या प्रशस्त सूर्य को देख सकता है ? अर्थात् नहीं ।।१२।।

जितक्षुधादिपरिषहः पुद्‌लकृतरागादि-भावासहः।
वीतरागतामजहच्चाञ्चति यतिः स्वं मुदा सह।।

जितक्षुधादिपरिषहः पुद्‌गलकृत–रागादि–भावासहः
वीतरागताम् अजहत् यतिः स्वं मुदा सह अञ्चति।

जो जीतता सब क्षुधादि परीषहों को,
संहार रागमय-भाव स्ववैरियों को ।
है वीतराग बनता वह शीघ्रता से,
शुद्धात्म को निरखता, बचता व्यथा से ।।१३।।

अर्थ– जिसने क्षुधा आदि परिषहों को जीत लिया है, जो पुद्‌गलकृत रागादिभावों को सहन नहीं करता है और वीतरागता को नही छोड़ता है, ऐसा साधु हर्ष के साथ स्वात्मा को प्राप्त होता है ।।१३।।

वै यम्ययत्यप्ययं दिव्यं स्वीयमनिन्द्यं यद् द्रव्यम्।
निश्चयनयस्य विषयं गृहीव परिग्रही नाव्ययम्।।

अयं परिग्रही यमी अपि निश्चयनयस्य विषयं यद् स्वीयम् अनिन्द्यं
दिव्यम् अव्ययं द्रव्यं गृही इव वै न अयति।

है वन्ध दिव्य निज आतम द्रव्य न्यारा,
जो शुद्ध निश्चय नयाश्रित मात्र प्यारा ।
योगी गृही सम उसे न कभी निहारें,
जो त्याग के पुनि परिग्रह-भार धारें ।।१४।।

अर्थ– यह परिग्रहवान् मुनि भी निश्चयनय के विषयभूत, अनिन्दनीय, दिव्य और अविनाशी स्वकीय द्रव्य को गृहस्थ के समान प्राप्त नहीं होता । अर्थात् जिस प्रकार परिग्रही गृहस्थ शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार परिग्रही साधु भी नहीं प्राप्त होता ।

अमन्दमनोमराल ! विविक्तविविधविकल्पवीचिजालम्।
कलितवृषकमलनालं वित्-सरो मुक्त्वाऽन्येनालम्।।

अमन्दमनोमराल ! विविक्त–विविध–विकल्पवीचिजालं
कलितवृषकमलनालं वित्सरः मुक्त्वा अन्येन आलम्।

सद्बोध रुप हैं सर शोभित है विशाल,
ना हैं जहाँ वह विकल्प तरंग-जाल ।
शोभे तथा परम धर्म पयोज प्यारे,
तू छोड के मनमराल ! उसे न जा रे ! ।।१५।।

अर्थ–हे चंचलमनरूपी हंस ! नाना विकल्परूपी तरंगों के जाल से रहित तथा धर्मरूप कमल की मृणालों से सहित जो ज्ञानरूपी सरोवर है उसे छोड़ अन्य सरोवर व्यर्थ है ।।१५।।

यो हीन्द्रियाणि जयति विश्वयत्नेन स जायते यतिः।
मुनिरयं तं कलयति शुद्धात्मानं च ततोऽयति।।

यः इन्द्रियाणि विश्वयत्नेन जयति, स यतिः जायते।
अयं मुनिः तं कलयति, ततः शुद्धात्मानं च अयति।

जीतीं जिनेश ! जिसने निज इन्द्रियाँ हैं,
माना गया यति वही, जग में यहाँ है ।
श्रद्धा-समेत उसको सिर मैं नमाता,
शुद्धात्म को निरख, शीघ्र बनूँ प्रमाता ।।१६।।

अर्थ– जो पूर्ण यत्न से इन्दियों को जीतता है निश्चय से वह यति–साधु है। यह मुनि इन्द्रियविजय अथवा इन्द्रियविजेतापने को प्राप्त होता है ।अतः रागादिविकारों से रहित शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है–उस रूप परिणमन करता है। ।।१६।।

सुपीतात्मसुधारसः संयमी सुधीर्यश्च सदाऽरसः।
ऋषे! विषयस्य सरसः किल किं वार्वाञ्छति नरः सः?।।

ऋषे ! यः सुपीतात्मसुधारसः सुधीः संयमी सदा अरसः सः
नरः विषयस्य वार् किल वाञ्छति ?

सद्बोध से परम शोभित जो यहाँ है,
पीयूष पी स्वपद में रमता रहा है।
क्या संयमी विषय-पान कदापि चाहे ?
जो जीव को विष समान सदैव दाहे ।।१७।।

अर्थ–हे ऋषे ! जिसने आत्मारूपी अमृतरस का अच्छी तरह पान किया है, जो संयमी है, हिताहित के विवेक से सहित है। और सदा विषयास्वाद से विरक्त है, वह मनुष्य विषयरूपी तालाब के जल की क्या इच्छा करता है ? अर्थात् नहीं ।।१७।।

यः समयति स्वसमयं विबोधबलेन विहाय परसमयम्।
संवरोऽस्तु स्वयमयं तस्यास्रवारिः प्रतिसमयम्।।

यः विबोधबलेन परसमयं बिहाय स्वसमयं समयति,
तस्य अयम् आस्रवारिः संवरः स्वयं प्रतिसमयम् अस्तु।

विज्ञान से स्वपद को जिसने पिछाना,
त्यागा सभी तरह से पर को सुजाना।
वो दुःखरूप उस आस्रव को नशाता,
स्वामी ! सही सुखद संवर तत्त्व पाता।।१८।।

अर्थ– हे भगवान् ! जो विज्ञान के बल से परसमय–परपदार्थों को छोड़कर स्वसमय–निज शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है, उसी का अनुभव करता है, उसके प्रत्येक समय–क्षण में आस्रव का विरोधी संवर स्वयं प्राप्त होता है। ।।१८।।

व्रतिनो न शल्यत्रयं कलयन्तु किलाऽखिलारत्नत्रयम्।
शुद्धं स्पृशन्त्वत्र यं निजात्मानं स्तुतजगत्त्रयम्।।

अखिलाः व्रतिनः किल रत्नत्रयं कलयन्तु, न शल्यत्रयम्।
यं स्तुतजगत्त्रयं शुद्धं निजात्मानम् अत्र स्पृशन्तु।

मायादि शल्य-त्रय को मुनि नित्य त्यागें,
ज्ञानादि रत्नत्रय धार सदैव जागें ।
वे शुद्धतत्व फलतः पल में लखेंगे,
संसार में परम सार उसे गहेगें।।१९।।

अर्थ–समस्त व्रती मनुष्य यथार्थ में रत्नत्रय को प्राप्त हों–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। माया,मिथ्यात्व और निदानरूप शल्य को प्राप्त न हों। साथ ही, उस रत्नत्रय रूप लक्षण से जगत्त्रय के द्वारा स्तुत निजशुद्ध आत्माका स्पर्श–अनुभव करें ।।१९।।

अधिगतोचितानुचितः स्वचिन्तनवशीकृतचञ्चलचित्तः।
शिवपथपथिकः कश्चित् पदं कुपथं नयति किं क्वचित्?।।

कश्चित् अधिगतोचितानुचितः स्वचिन्तनवशीकृतचञ्चलचित्तः
शिवपथपथिकः किं क्वचित् कुपथं पदं नयति ?

आदेय-हेय जिनने सहसा पिछाने,
लाये स्वचिन्तनतया मन को ठिकाने ।
ज्ञानी वशी परम धीर मुमुक्षु ऐसे,
स्वामी ! रखें कुपथ में निजपाद कैसे ? ।।२०।।

अर्थ–जिसने उचित और अनुचित को जान लिया है तथा आत्मचिन्तन के द्वारा जिसने चन्चलचित्त को अपने अधीन कर लिया है, ऐसा मोक्षमार्ग का कोई पथिक कहीं क्या अपना पग कुमार्ग में ले जाता है ? अर्थात नहीं ।।२०।।

जिनसमयं जानीत आत्मानं नेति जिनेन स गीतः।
यद्यपि यो भवभीतः प्रमादेन विकारं नीतः।।

'यद्यपि यो भवभीतः, प्रमादेन विकारं नीतः,जिनसमयं जानीते,
सःआत्मानं न (जानीते)' –इति जिनेन (सः) गीतः ।

संसार से बहुत यद्यपि जो डरा है,
जाना जिनागम सभी जिसने खरा है ।
आत्मा उसे न दिखता, यदि है प्रमादी,
ऐसा सदैव कहते गुरू सत्यवादी ।।२१।।

अर्थ–यद्यपि जो संसार से भयभीत है परन्तु प्रमाद से विकार को प्राप्त हो गया है अर्थात् जिनसमय–जिनशास्त्र को जानता हुआ भी आत्मा को नहीं जानता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।।।२१।।

मायादिभावमवहन्नघज्ञानघनौघममलं महः।
मुहुः कलयामि तदहमुदीक्ष्य मयूरो मुदा सह ।।

मायादिभवम् अवहन् अहं मयूरः तद् अमलं महः
अनघज्ञानघनौघं मुहुःउदीक्ष्य मुदा सह कलयामि ।

है ज्ञान जो सघन पावन पूर्ण प्यारा,
सद्ज्ञान रूप जल की झरती सुधारा ।
शोभामयी अतुलनीय सुखैक डेरा,
नीचे उसे निरख मानस-मोर मेरा ।।२२।।

अर्थ–मायाचार आदि विकारीभावों को न धारण करने वाला मैं मयूर,उस प्रसिद्ध तेजोमय निष्कलंक ज्ञानरूप मेघसमूह को देखकर हर्ष के साथ स्तवन करता हूँ अथवा नृत्य करता हूँ।।२२।।

सद्दृग्विद्भ्यां मित्रं युक्तं व्यक्तमात्मनश्च चरित्रम् ।।
सुखं ददाति विचित्रं तीर्थ त्वं धारय पवित्रम् ।।

सद्दृग् विद्भ्यां युक्तं, व्यक्तं यत् विचित्रं सुखं ददाति,
तीर्थ पवित्रं मित्रं (एतादृशं)आत्मनः चरित्रं त्वं धारय।

होते घनिष्ठ जिसके दृग-बोध साथी,
होता वही चरित आतम का सुखार्थी।
देता निजीय सुख,तीरथ भी कहाता,
तू धार मित्र ! उसको दुःख क्यों उठाता?।।२३।।

अर्थ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त प्रकट हुआ जो विविध सुख को देता है, [illegible] तथा तीर्थ स्वरूप उस आत्मचारित्र–निश्चयचारित्र को हे श्रमण ! धारण [illegible]।।२३।।

यः स्वकमनुभवति स तां लभतेऽसुलभां श्रियमिति मतं सताम्।
येहानन्यसदृशतां समावहति शुचिं विलासताम् ।।

यः स्वकम् अनुभवति,स तां असुलभां श्रियं लभते,
या (श्रीः)इह अनन्यसदृशतां शुचिं विलासतां (च)समावहति–इति सतां मतम्।

पीता निजानुभव पावन पेय प्याला,
डाले गले शिवरमा उसके सुमाला।
जो लोक में अनुपमा शुचि-धारिणी है ,
ऐसा जिनेश कहते, सुख-कारिणी है ।।२४।।

अर्थ–जो मुनि निज आत्मा का अनुभव करता है वह उस दुर्लभ लक्ष्मी को प्राप्त होता है जो इस जगत् की अनुपम पवित्रता और शोभा को धारण करती है।।२४।।

समुपलब्धौ समाधौ साधुस्तथागतरागाद्युपाधौ ।
यथा सरिद् वारिनिधौ मुदमुपैति च निर्धनो निधौ ।।

गतरागाद्युपाधौ समुपलब्धौ समाधौ साधुः तथा मुदम् उपैति,
यथा सरित् वारिनिधौ निर्धनः च निधौ (उपैति)।

रागादि भाव जिसमें न,वही समाधि,
पाके उसे मुदित हो मुनि अप्रमादी।
होती नदी अमित सागर पा यथा है,
किं वा दरिद्र खुश हो निधि पा अथाह ।।२५।।

अर्थ- रागादिरूप उपाधि से रहित शुक्लध्यान के प्राप्त होने पर मुनि उस प्रकार हर्ष को प्राप्त होता है, जिस प्रकार समुद्र के प्राप्त होने पर नदी और खजाना के मिलने पर दरिद्र मनुष्य।।२५।।

भवकारणतो देह-रागात्किल दूरीभवन् सदेह ।
सुखप्रदे स्वपदेऽहमनुवसामि मुनिर्जितादेह !।।

जितादेह ! भवकारणतः देहरागात् इह सदा दूरीभवन्
अहं मुनिः सुखप्रदे स्वपदे अनुवसामि ।

है देह-नेह भव-कारण तो उसी से,
मोक्षेच्छु मैं,बहुत दूर रहूं,खुशी से ।
मैं हो विलीननिज में, निज को भजूँगा,
स्वामी ! अनन्त सुख पा, भव को तजूँगा ।।२६।।

अर्थ– हे कामविजेता ! जिनेन्द्र ! संसार के कारणभूत शरीरसम्बन्धी राग से सदा दूर रहता हुआ मैं मुनि,सुखदायक निजपद में–ज्ञायकस्वभावी निजआत्मा में निवास करता हूँ।।२६।।

प्राप्तो यैरेवैष स्वात्मानुभवो गतरागद्वेषः।
तैर्जगति को ऽवशेषः प्राप्तव्योऽत्र ततो विशेषः ।।

एष गतरागद्वेषः स्वात्मानुभवः यैः(एषः) प्राप्तः तैः
अत्र जगति ततः विशेषः कः प्राप्तव्यः अवशेषः ?

जो भी निजानुभव को जब प्राप्त होते,
वे रागद्वेष लव को न कदापि ढोते।
तो कौन सा फिर पदार्थ रहा ?
प्राप्तव्य जो कि उनको न रहा विशेष ।।२७।।

अर्थ– जिन महानुभावों ने रागद्वेष से रहित स्वानुभव को प्राप्त कर लिया,उन्हें इस जगत् में स्वानुभव से अधिक और विशेष बाकी क्या रहा ? अर्थात् कुछ नही ।।२७।।

रागादीन् सुधीः पुमान् नैमित्तिका ननियतान् नैतीमान्।
अनधिगत तत्वोऽसुमान् यति तु पर्यायान् परकीयान् ।।

सुधीः पुमान् इमान् नैमित्तिकान् अनियतान् रागादीन् न एति ।
अनधिगततत्वः असुमान् तु परकीयान् पर्ययान्याति ।

रागादि भाव पर हैं,पर से न नाता,
ज्ञानी-मुनीश रखता पर में न जाता ।
धिक्कार मूढ पर को करता, कराता,
ना तत्व-बोध रखता, अति दुःख पाता ।।२८।।

अर्थ–ज्ञानी मनुष्य इन नैमित्तिक अस्थिर रागादि को प्राप्त नहीं होता–उन्हें अपना नहीं मानता। परन्तु तत्वव्यवस्था को न जानने वाला अज्ञानी प्राणी परकीयपर्यायों को प्राप्त होता है–उन्हें अपनी मानता है ।।२८।।

बध्यते विध विधिः स प्राहेति बोधैकनिधिर्विधिः।
साधुर्विहितात्मविधिः येनाधिगतो हि विधेर्विधिः।।

येन हि विधेः अधिगतः विधि साधुः (भवति)।
स बोधैकनिधिः–'विधिः विधिना बध्यते" इति प्राह।

सम्बन्ध होत विधि से विधि का सदा है,
बोधैकधाम 'जिन'ने जग को कहा है।
ऐसा रहस्य फिर भी मुनि ने गहा है,
जो आत्मभाव करता साहस रहा है ।।२९।।

अर्थ–जिसने विधि–कर्म–भाग्य की विधि को जान लिया, जिसने आत्मा का विधि–कार्य–संवर निर्जरा सम्पन्न कर ली है और सम्यग्ज्ञान ही जिसकी अद्वितीय निधि है ऐसा साधु अपनी विधि–नियमित चर्या से बद्ध होता है, बँधा रहता है, ऐसा विधिब्रम्हा–जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।।२९।।

यदा साऽऽत्मानुभूतिरुदेति शुद्धचैतन्यैकमूर्तिः।
मुनिर्नश्वरविभूति-मिच्छति किं दुःखप्रसूतिम्?।।

शुद्धचैतन्यैकमूर्तिः सा आत्मानुभूतिः यदा उदेति, (तदा)
किं मुनिः नश्वरविभूतिं दुःखप्रसूतिम ! इच्छति ? (नेति)

आत्मानुभूति वर चेतन-मूर्ति प्यारी,
साक्षात् यदा उपजती शिवसौख्यकारी ।
माँगे तथापि मुनि क्या जग-सम्पदा को ?
देती सदा जनम जो बहु आपदा को ।।३०।।

अर्थ--शुद्ध चैतन्य की अद्वितीयमूर्तिस्वरूप वह आत्मानुभूति जब प्रकट होती है। तब क्या मुनि दुःख को उत्पन्न करने वाली भंगुर संपदा की इच्छा करता है ? अर्थात् नहीं।।३०।।

भवत्यां भोगसंपदि मुनिर्मोदमेति न कदापि सपदि।
धारयति समतां हृदि हा ! न विषण्णो भवति च विपदि।।

भोगसंपदि भवत्यां (सत्यां) सपदि मुनिः कदापि मोदं न एति ।
हा ! (सः) विपदि विषण्णो न भवति, हृदि (च)समतां धारयति ।

संपूर्ण भोग मिलने पर भी कदापि,
भोगी नहीं मुनि बने, बनते न पापी ।
पीते तभी सतत हैं समता सुधा को,
गाली मिले, न फिर भी करते क्रुधा को।।३१।।

अर्थ--भोगसंपदा के रहते हुए मुनि कभी भी शीघ्र हर्ष को प्राप्त नहीं होता । हृदय में समता को धारण करता है और हर्ष है कि विपत्ति में खेद खिन्न भी नहीं होता।।३१।।

पदं कुदृष्ट्यै देहि मा सास्ति भवेऽत्र दुःखप्रदेऽहिः।
त्वमित्थमवेहि देहिंस्तां त्यज स्वसम्पदं यदेहि ।।

अत्र दुःखप्रदे भवे सा (कुदृष्टिः) अहिः अस्ति। (अतः) त्वं कृदृष्ट्यै पदं मा देहि ।
(हे) देहिन् ! दत्थम् अवेहि, तां त्यज। यत् (यस्मात् कारणात्) स्वसम्पदम् एहि ।

मिथ्यात्व को हृदय में, मत स्थान देना,
है दुष्ट व्याल वह, क्यों दुःख मोल लेना ।
छोडो उसे, निकट भी उसके न जाओ,
तो शीघ्र ही अतुल संपति-धाम पाओ।।३२।।

अर्थ–इस दुःखदायक संसार में मिथ्यादर्शन ही सर्प है। अतः तुम उसके लिए पद स्थान मत देखो–उस ओर पग मत बढ़ाओ। हे प्राणी ! ऐसा तुम जानो, उस मिथ्यादर्शन को छोड़ो जिससे स्वयंसंपदा को प्राप्त हो सको।।३२।।

जलाशये जलोद्भवमिवात्मानं भिन्नं जलतोऽनुभव।
प्रमादी माऽये भव भव्य ! विषयतो विरतो भव ।।

अये! भव्य! प्रमादी मा भव, विषयतः विरतो भव ।
आत्मानं जलाशये जलोद्भवम् इव जलतः भिन्नम् अनुभव ।

जैसे कहे जलज जो जल से निराला,
वैसे बना रह सदा जड से खुशाला ।
क्यों तू प्रमत्त बनता, बन भोग त्यागी,
रागी नहीं बन कभी, बन वीतरागी ।।३३।।

अये ! भव्य तू प्रमादी मत हो, पञ्चेन्द्रियों के विषय से निवृत्त हो। जिस प्रकार जलज कमल जल से उत्पन्न होकर भी अपने आपको जल से भिन्न रखता है। उसी प्रकार तू भी संसार से उत्पन्न होकर भी जड़–पौद्गलिक संसार से अपने आपको पृथक् अनुभव कर। ।।३३।।

भिन्नोऽहमङ्गान्मद-रूपिणोऽपि च भिन्नमित्यङ्गमदः।
मुञ्चामीत्येति मद-माङ्ग हे गत-भवहेतुमद !।।

हे गतभवहेतुमद ! अहम् अङ्गात् भिन्नः । अपि च अरूपिणः मत्
अदः अङ्ग भिन्नम् अस्ति–इति ईत्वा (अहं) आङ्ग मदं मुञ्चामि ।

हूँ देह से पृथक चेतन शक्ति वाला,
स्वामी ! सदैव मुझसे तन भी निराला ।
यों जान, मान तनका मद छोड़ता हूँ,
मैं मात्र मोक्ष-पथ से मनजोड़ता हूँ।।३४।।

अर्थ–हे संसार के कारणभूत मद से रहित ! मैं शरीर से भिन्न हूँ और यह शरीर भी मुझ अमूर्तिक से भिन्न है, ऐसा जानकर मैं शरीर सम्बन्धी मद–गर्व को छोडता हूँ ।।३४।।

गतेऽघे मनोभुवि विहरति शुद्धात्मनि मुनिः स्वयंभुवि।
कथं बद्धः प्रभुर्विः खे चरितु-मिदमसाध्यं भुवि ।।

अघे मनोभुवि गते (सति) शुद्धात्मनि स्वयं भुवि मुनिः विहरति ।
(यथा) बद्धः विः खेचरितुं कथं प्रभुः? इदं भुवि असाध्यं (वर्तते)।

हो काम नष्ट,अघ भी मिटता यदा है,
योगी विहार करता निज में तदा है ।
आकाश में विहग क्या फिर भी उड़ेगा?
जो जाल में फँस गया, फिर क्या करेगा?।।३५।।

अर्थ पापी काम के नष्ट हो जाने पर मुनि अनाद्यनन्त शुद्धात्मा में रमण करता है। जाल में बँधा पक्षी क्या आकाश में उडने के लिए समर्थ है? अर्थात् नहीं है। यह कार्य पृथिवी में असाध्य है ।।३५।।

यस्य हृदि समाजातः प्रशमभावः श्रमणो यथाजातः ।
दूरोऽस्तु निर्जरातः कदापि मा शुद्धात्मजातः ।।

यस्य हृदि प्रशमभावः समाजातः (स) यथाजातः श्रमणः
शुद्धात्मजातः निर्जरातः कदापि दूरः मा अस्तु।

सौभाग्य से श्रमण जो कि बना हुआ है,
सच्चा जिसे प्रशमभाव मिला हुआ है ।
छोड़े नहीं वह कभी उस निर्जरा को,
जो नाशती जनम-मृत्यु तथा जरा को ।।३६।।

अर्थ–जिसके हृदय में प्रशमभाव प्रकट हुआ है वह दिगम्बर मुद्रा का धारक–निर्ग्रन्थ साधु शुद्धात्मा से होने वाली निर्जरा से भी दूर नहीं हो ।।३६।।

यत् संसारे सारं स्थायीतरमस्ति सर्वथाऽसारम् ।
सारं तु समयसारं मुक्तिर्यल्लभ्यते साऽरम् ।।

संसार यत् स्थयीतरं सारं (तत्) सर्वथा असारम् अस्ति।
सारं तु समयसारम् (एव) यत् सा मुक्तिः अरं लभ्यते।

संसार में धन न सार, असार सारा,
स्थायी नही,न उनसे सुख हो अपारा।
है सार तो समय-सार अपार प्यारा,
हो प्राप्त शीघ्र जिससे वह मुक्तिदारा।।३७।।

अर्थ–संसार में जो क्षणभङ्गुर सार–धन है वह सब प्रकार से असार है–सारहीन है। सार–श्रेष्ठ तो समयसार–शुद्धात्म परिणति ही है जिससे वह मुक्ति शीघ्र प्राप्त होती है।।३७।।

निस्संङः सदागतिः विचरतीव कन्दरेषु सदागतिः ।
ततो भवति सदागतिः स्वरसशमितमारसदागतिः ।।

–स्वररसशमितमारसदागतिः निस्संगः सदागति इव सदागतिः कन्दरेषु विचरति।
ततः (तस्मात् कारणात्) सदागतिः भवति।

निस्संग हो विचरते गिरि-गह्वरों में,
वे साधु ज्यों पवन हैं वन कन्दरों में ।
कामाग्नि को स्वरस पी झट से बुझा के,
विश्राम पूर्ण करते निज-धाम जाके।।३८।।

अर्थ–जिसने स्वरस–आत्मबल अथवा स्वानुभवरूप जल से कामरूपी अग्नि को शान्त कर दिया है ऐसा वायु के समान निःसङ्ग साधु वन की गुफाओं में विचरण करता है इस कारण उसे सदागति–निर्वाण प्राप्त होता है।।३८।।

सरस्तत् पुष्करेण यतितिमिर्भातु ध्यानपुष्करेण।
मृदुता च पुष्करे न नरेऽविरते गीः पुष्करे न।।

तत् सरः पुष्करेण भातु, यतितिमिः ध्यानपुष्करेण (भातु) पुष्करे च मृदुता (भातु)
अविरते नरे न (भातु) पुष्करे गीः न (भातु)।

शोभे सरोज-दल से सर ठीक जैसा,
सद्ध्यान रूप जल से मुनि-मीन वैसा।
हो कंज में मृदुपना, न असंयमी में,
'ना शब्द व्योम गुण है'-कहते यमी हैं ।।३६।।

अर्थ–वह सरोवर पुष्कर–कमल से सुशोभित हो और मुनिरूप मीन ध्यानरूपी पुष्कर–जल से सुशोभित हो। कोमलता पुष्कर–कमल में सुशोभित हो असंयमी मनुष्य में नहीं और शब्द पुष्कर आकाश में नहीं।।३६।।

संसारमूलमेन आर्तरौद्रद्वयं रोचते मे न।
हेममयः कथमेण ईप्सितस्तेन रामेण?।।

संसारमूलम् आर्तरौद्रद्वयं एनः मे न रोचते।
हेममयः एणः तेन रामेण कथम् ईप्सितः?

ये आर्तरौद्र मुझको रुचते नहीं हैं,
संसार के प्रमुख कारण पाप वे हैं ।
श्री रामचन्द्र फिर भी मृग-भ्रान्ति भूले ?
जो देख कांचन-मृगी इस भाँति फूले ।।४०।।

अर्थ–संसार के प्रमुख कारण,पापरूप आर्त और रौद्रध्यान मुझे अच्छे नहीं लगते। सुवर्णमय मृग विवेकी राम के द्वारा कैसे चाहा गया ?।।४०।।

स्वानुभवैकयोगतः परां वीतरागतां यो गतः।
बिभेत्यङ्गवियोगतः किं चलति शुद्धोपयोगतः।।

स्वानुभवैकयोगतः यः परां वीतरागतां गतः, सः किम्
अङ्गवियोगतः बिभेति? शुद्धोपयोगतः चलति?

योगी निजानुभव से पर को भुलाता,
है वीतरागपन को फलरूप पाता ।
वो क्या कभी मरण से मुनि हो डरेगा ?
शुद्धोपयोग धन को फिर क्या तजेगा ?।।४१।।

अर्थ–जो मुनि स्वानुभव के अद्वितीय संयोग से वीतरागता को प्राप्त हुआ है वह क्या शरीर के वियोग से डरता है ? और शद्धोपयोग से विचलित होता है? अर्थात् नहीं ?।।४१।।

यो दूरो निजस्वतश्चरति च दृक्कंजविकास-भास्वतः।
स हि परभावनास्वतः कुर्याद् रुचिमज्ञानी स्वतः।।

दृक्कंजविकासभास्वतः निजस्वतः यः दूरः चरति,
अतः स हि अज्ञानी परभावनासु स्वतः रुचिं कुर्यात्।

जो भानु है, दृग-सरोज विकासता है,
योगी सुदूर रहता उससे यदा है।
वो तो तदा नियम से पर भावनायें,
हा ! हा ! करे, सहत है फिर यातनायें।।४२।।

अर्थ--जो मुनि,सम्यग्दर्शनरूपी कमल को विकसित करने के लिये सूर्यरूप आत्मधन से दूर रहता है इसीलिये वह अज्ञानी परपदार्थो की भावनाओं में स्वयं रूचि करता है ।।४२।।

कलय व्रतानि पञ्च तापपदानि मुञ्च पापानि पञ्च।
नो हि रागप्रपञ्च-मजं भज स्तुतशत-सुरपञ्च।।

पञ्च व्रतानि कलय, तापपदानि पञ्च पापानि मुञ्च।
स्तुतशतसुरपम् अजं भज, रागप्रपञ्चं नो हि (भज)।

ये पंच पाप इनको बस शीघ्र छोड़ो,
धारो महाव्रत सभी मन को मरोड़ो ।
औ ! राग का तुम समादर ना करो रे !
देवाधिदेव 'जिन' को उर में धरो रे ! ।।४३।।

अर्थ--अहिंसा आदि पांचव्रतों को धारण करो, दुःख के स्थानभूत पाँच पापों को छोडो । राग का विस्तार मत करो और सौ इन्द्रों के द्वारा स्तुत जिनदेव की सेवा करो।।४३।।

भवहेतुभूता क्षमा त्यक्ता जिनेन या स्वीकृता क्षमा।।
तां विस्मर नृदक्ष ! मा, यतः सैव शिवदाने क्षमा।।

या भवहेतुभूता क्षमा जिनेन त्यक्ता, (याच) क्षमा स्वीकृता, हे नृदक्ष !
तां (क्षमां) मा विस्मर, यतः सा एव शिवदाने क्षमा (वर्तते)।

रे ! 'वीर'ने जडमयी तज के क्षमा को,
है धार ली तदुपरान्त महा क्षमा को।
जो चाहते जगत में बनना सुखी हैं,
धारे इसे, परम मुक्ति-वधू सखी है ।।४४।।

अर्थ–जो संसार की कारणभूत है ऐसी क्षमा–पृथिवी का जिनेन्द्र भगवान् ने त्याग किया है और कल्याण प्राप्ति में जो हेतुभूत है ऐसी क्षमा–शान्ति को स्वीकृत किया है। हे चतुरनर ! तू जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा स्वीकृत क्षमा को मत भूल । क्योंकि मोक्षप्रदान करने में वही क्षमा–समर्थ है।।४४।।

प्रत्ययो यस्य वृत्तं जिने निजचिन्तनतो मनो वृत्तम्।
तस्य वृतं हि वृत्तं कथयतीतीदमत्र वृत्तम्।।

यस्य जिने प्रत्ययो वृत्तं, निजचिन्तनतः (यस्य) मनः वृत्तं,
तस्य वृत्तं हि वृत्तम्–इति इदं वृत्तम् अत्र कथयति।

आस्था घनिष्ठ निज में जिनकी रही है,
विज्ञान से चपलता मन की रुकी है।
होता चरित्र उनका वर मोक्ष-दाता,
ऐसा रहस्य यह छन्द हमें बताता ।।४५।।

अर्थ जिसका जिनेन्द्र भगवान् में विश्वास है और आत्मचिन्तन में जिसका मन लगा हुआ है उसी का चारित्र वास्तव में चारित्र है ऐसा रहस्य यहाँ यह छन्द हमें बता रहा है।।४५।।

रुचिमेति कुधीः के न परवस्तुदत्तचित्तो युतोऽकेन।
स्वस्थो जीवति केन सह मुनिस्तं नमामि केन।।

अकेन युतःपरवस्तुदत्तचित्तः कुधीः के न रुचिम् एति।
स्वस्थः मुनिः केन सह जीवति, तं केन नमामि।

आत्मा जिसे न रुचता वह तो मुधा है,
मिथ्यात्व से रम रहा पर में वृथा है।
ज्ञानी निजीय घर में रहते सदा ये,
वन्दूँ,उन्हें, द्रुत मिले निज संपदायें ।।४६।।

अर्थ–जो अक दुःख या पाप से सहित है तथा जिसका चित्त परपदार्थों में लग रहा है, ऐसा कुबुद्धि–अज्ञानी मानव क–आत्मा में रूचि–प्रीति अथवा प्रतीति को प्राप्त नहीं होता। इसके विपरीत जो मुनि स्वरथ–आत्मस्थ होता हुआ क–सुख से जीवित रहता है उसे मैं क–शिर से नमस्कार करता हूँ।।४६।।

क्व सा दाहकता विना तिष्ठतु कथं, स च तया विनाऽविना।
वस्तुतोऽस्तु यच्च विना ज्ञानमात्मना किन्तु न विना।।

सा दाहकता अविना विना क्व कथञ्च तिष्ठतु? स (अग्निः) तया विना च (कथं तिष्ठतु?)
वस्तुतः यत् ज्ञानं विना विना–अस्तु, किन्तु आत्मना (विना) न (अस्तु)। (भवतीत्यर्थः)।

कैसे रहे अनल दाहकता बिना वो,
तो अग्नि से पृथक दाहकता कहाँ हो ?
आकाश के बिन कहीं रह तो सकेगा,
पै ज्ञान आतम बिना न कहीं रहेगा ।।४७।।

अग्नि की दाहकता अग्नि के बिना कहाँ और कैसे रह सकती है और अग्नि दाहकता के बिना कैसे रह सकती है। वास्तव में ज्ञान वि–आकाश के बिना तो रह सकता है पर आत्मा के बिना नहीं रह सकता। ।।४७।।

न निश्चयेन नयेन किन्त्वलङ्कृतस्तद्विषयेण येन।
यस्तं व्रजेन्नयेन मुक्तिरसंयमिनस्तान् ये न।।

यः निश्चयेन नयेन न अलंकृतः, किन्तु तद् (तस्य निश्चयनयस्य) विषयेण येन (अलंकृतः) तं (नरं) मुक्तिः नयेन व्रजेत्। (परञ्च) ये असंयमिनः तान् न (व्रजेत)।

जो मात्र शुद्धनय से न हि शोभता है,
पै वीतरागमय भाव सुधारता है ।
लक्ष्मी उसे वरण है करती खुशी से,
सागार को निरखती तक ना इसी से ।।४८।।

अर्थ– जो निश्चयनय से अलंकृत नहीं हैं किन्तु उसके विषयभूत संयमाचरण से अलंकृत है उस मनुष्य को मुक्ति नय–परम्परा से प्राप्त हो सकती है । परन्तु जो असंयमी हैं उन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती ।।४८।।

त्वं त्याज्यं त्यज मानं विस्मर यममलमात्मानं मा नम्।
भवन्नमानी मानं गतः स जिनोऽनन्यसमानम्।।

त्वं त्याज्यं मानं त्यज, यम् अमलम् आत्मानं नं मा विस्मर।
स जिनः अमानी भवन् अनन्यसमानं मानं गतः।

"हे पूर्व में मुनि सभी बनते अमानी,
पश्चात् जिनेश बनते,' यह 'वीर' वाणी ।
तू भी अभी इसलिये तज मान को रे,
शुद्धात्म को निरख,ले सुख की हिलोरें ।।४९।।

अर्थ हे मुने ! तू छोड़ने योग्य मान को छोड़। प्रशस्त निर्मल आत्मा तथा जिनदेव को मत भूल । वह जिनदेव मान–गर्व रहित होते हुए अनुपम–अद्वितीय मान–ज्ञान अमान आदर को प्राप्त हुये हैं।।४९।।

यदि भवभीतोऽसि भवं भज भक्त्याऽभवमिच्छसि भव्य भवम्।
दृशावस्य मनोभवं त्वङ्कुरु शुच्या निजानुभवम्।।

भव्य ! यदि भवभीतः असि, अभवं भवम् (च) इच्छसि चेत् शुच्या दृशा मनोभवम् आवस्य त्वं भक्त्या भवं भज, निजानुभवं (च) कुरु।

संसार सागर किनार निहारना है,
तो मार मार,दृग को द्रुत धारना है ।
औ ! जातरूप 'जिन' को नित पूजना है,
भाई ! तुझे परम आतम जानना है ।।५०।।

अर्थ– हे भव्य ! यदि तू संसार से भयभीत है और अभव–जन्मरहित भव–सिद्धपर्याय को चाहता है तो निर्मलदृष्टि–सम्यक्त्व अथवा विवेक से मनोभव–काम को नष्ट कर भक्तिपूर्वक भव–जिनेन्द्रदेव की आराधना कर तथा शुद्ध आत्मा का अनुभव कर।।५०।।

सन्तः समालसन्तः सन्तु सन्ततं स्वे स्वकं भजन्तः।
अन्तेऽनन्ततामतः प्रयान्तु शिवालये वसन्तः।।

सन्तः स्वकं भजन्तः (अतएव) समालसन्तः स्वे सन्ततं सन्तु।
अतः अन्ते शिवालये वसन्तः अनन्ततां प्रयान्तु।

सालीन हों स्वपद में सब सन्त साधु,
शुद्धात्म के सुरस के बन जाये स्वादु ।
अन्त में सुख अनन्त नितान्त पावें,
सानन्द जीवन शिवालय में बितावें ।।५१।।

साधुजन स्वकीय आत्मा का भजन करते हुये एवं सम्यक् प्रकार से सुशोभित हुए निरन्तर आत्मा में रहें–उसी का चिन्तन–मनन करें। इससे अन्त में मुक्तिध में रहते हुए अनन्तता–अविनश्वरता को प्राप्त हों।।५१।।